

RNI 26281/74 रजि.नं. पी.बी./जे.एल.-011/2018-20



आर्य मर्यादा

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रमुख पत्र

वर्ष: 45, अंक : 36

एक प्रति 2 : रुपये

कुल पृष्ठ : 8

रविवार 29 नवम्बर, 2020

विक्रमी सम्वत् 2077, सृष्टि सम्वत् 1960853121

दयानन्दाब्द : 196 वार्षिक शुल्क : 100 रुपये

आजीवन शुल्क : 1000 रुपये

दूरभाष : 0181-2292926, 5062726

E-mail: apspunjab2010@gmail.com,

www.aryapratinidhisabha.org

वर्ष-45, अंक : 36, 26-29 नवम्बर 2020 तदनुसार 15 मार्गशीर्ष, सम्वत् 2077 मूल्य 2 रु०, वार्षिक 100 रु० आजीवन 1000 रु०

मन्त्रानुसार आचरण

ले०-स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

**नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे ।।**

-ऋ. १०।१३४।७

शब्दार्थ-हे देवा: = दिव्यगुणसम्पन्न महात्माओ! **नकि:** = न तो हम **मिनीमसि** = हिंसा करते हैं-घातपात करते हैं और **नकि:** = न ही **आ+योपयामसि** = फूट डालते हैं, वरन् **मन्त्र-श्रुत्यम्** = मन्त्र के श्रवणानुसार **चरामसि** = आचरण करते हैं-चलते हैं, **कक्षेभि:** = तिनकों के समान तुच्छ **पक्षेभि:** = साथियों के साथ **अपि** = भी **सम्** = एक होकर, एकमत होकर, मिलकर, **अत्र** = इस जगत् में **अभिरभामहे** = वेगपूर्वक कार्य करते हैं।

व्याख्या-वेद हिंसा, घातपात का अत्यन्त विरोधी है। साधारण जीवन में हिंसा वेद को अभिमत नहीं है। वास्तव में हिंसा प्रायः सम्पूर्ण दुर्गुणों की खान है। इसलिए ऋषियों ने यमों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है। योगियों का सिद्धान्त है कि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये सभी अहिंसा को ही उज्वल और परिष्कृत करने के लिए हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसे अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिए समाज बनाकर रहना होता है। समाज-निर्माण का प्रयोजन मनुष्य का सर्वविध विकास है। उसके लिए कुछ नियम, विधान बनाने पड़ते हैं, ताकि समाज का संचालन भली-भाँति होता रहे। **'विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः'** [मनुष्य के मन की वृत्तियाँ विचित्र होती हैं] के अनुसार कई कुटिल-प्रकृति-मनुष्य अपनी कुटिलता के कारण समाज में गड़बड़ उत्पन्न कर देते हैं, उससे समाज में फूट पड़ जाती है। इस भेद के कारण समाज की शक्ति क्षीण हो जाती है। वैदिक लोग कहते हैं-

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि-न हम घातपात करते हैं और न ही फूट डालते हैं। ठीक है, निषिद्ध कर्मों से बचना निःसन्देह उत्तम है, किन्तु मनुष्य का हित तो विहित कर्मों में है, अतः कहा-

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि-मन्त्र के श्रवणानुसार हम चलते हैं, अर्थात् जैसा वेदमन्त्र में विहित है, मनुष्यमात्र को वैसा आचरण बनाना चाहिए। भगवान् ने मानव के कल्याण के लिए वेदवाणी का विधान किया है। वेद में मन्त्र को गुरु कहा गया है-

मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु [ऋ० १।१४७।४]-मन्त्र ही फिर गुरु होवे,

अर्थात् जहाँ कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध न हो, वहाँ मन्त्र की शरण लेनी चाहिए। मन्त्र का एक अर्थ विचार भी होता है, अर्थात् बिना विचारे कुछ नहीं करना चाहिए। वेद की शिक्षा का एक छोटा-सा नमूना [बानगी, आदर्श, उदाहरण] इसी मन्त्र में दे दिया है-

पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे-तिनों के समान तुच्छ साथियों के साथ एक होकर हम वेगपूर्वक यहाँ कार्य करते हैं, अर्थात् किसी को भी घृणा या तुच्छता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ भी अपना उपयोग रखता है। समझदार मनुष्य उससे भी अपनी कार्यसिद्धि कर लेते हैं।

संकेत से यह मन्त्र ऊँच-नीच भाव को समाज के लिए घातक मानकर उसे त्यागने की प्रेरणा कर रहा है।

(स्वाध्याय संदोह से साभार)

**महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिन् छ्यन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ।।**
-अथर्व० १०.७.३८

भावार्थ-अनन्त आकाश के बीच परमेश्वर की महिमा में पृथिवी आदि अनन्त लोक ठहरे हुए हैं। जैसे वृक्ष की शाखाएँ वृक्ष के धड़ में लगी होती हैं ऐसे ही उस परमेश्वर के आश्रय सब लोक लोकान्तर वर्तमान हैं।

**भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु ।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ।।**
-अथर्व० १०.८.२२

भावार्थ-जो महानुभाव, उस परम प्यारे सर्वगुणालंकृत सनातन परमात्मा की प्रेम से भक्ति करता है वही भाग्यवान् है, उसी को परमात्मा, अन्नादि भोग्य पदार्थ प्राप्त कराता है, वह महापुरुष अन्नादि पदार्थों को अतिथि आदि के सत्कार रूप परोपकार में लगाता हुआ और आप भी उन पदार्थों को भोगता हुआ सुखी होता है।

**सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ।।**
-अथर्व० १०.८.२३

भावार्थ-उस परमप्यारे प्रभु के उपासक महानुभावों को नित्य नये-से-नये प्रभु के अनन्त गुण प्रतीत होते हैं, जैसे दिन से रात और रात से दिन, नये-से-नये प्रतीत होते हैं।

देवानां पूरयोध्या

ले.-डा. सुशील वर्मा, गली मास्टर मूलचन्द्र वर्मा फाजिलका

मानव शरीर परमात्मा की उत्कृष्ट रचना है। प्राचीन साहित्य में इस शरीर को एक रथ कल्पित किया है। जिस प्रकार एक रथ पर आरुढ़ हो कर सुन्दर सुदूर स्थान पर पहुँचा जा सकता है। उसी प्रकार इस शरीर-रूपी रथ पर आरोह होकर दूरवर्ती लक्ष्य तक पहुँचना हमारा उद्देश्य है। हम सन्मार्ग के पथिक होकर इस ईश्वर प्रदत्त रथ का सदुपयोग करें। यह शरीर सबसे उत्तम निवास स्थान है क्योंकि वसुओं ने इसे बसाया है। ऐतरेय उपनिषद् (1/2/1-3) में इसी से सम्बन्धित एक कथानक है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्यों आदि देवों की रचना की। जैसे ही ये देव अवतीर्ण हुए उन्होंने प्रजापति से अपने अपने रहने की व्यवस्था का प्रश्न किया। परमात्मा ने उनके सम्मुख, गाय का, घोड़े का व अन्य शरीर प्रस्तुत किए, परन्तु उन्हें कोई स्थान पसन्द नहीं आया। तब अन्ततः मानव शरीर सामने लाया गया। सभी ने एक स्वर में कहा कि यह हमें पसन्द है और तुरन्त सभी देव उसमें प्रविष्ट हो गए और अपना अपना स्थान चुन लिया। इस प्रकार से उपनिषत्कार ने मानव शरीर की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया।

इसी मानव शरीर को देवपुरी भी कहा गया है क्योंकि ब्रह्माण्ड के सब देव इस शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो कर अपना अपना स्थान बनाए हुए हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

तस्मिन् हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ अथर्व 10/2/31

अष्टचक्रा-शरीर में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार। नव द्वारा-दो कान, दो नाक छिद्र, दो आँखें एक मुख और दो अधोद्वार। हिरण्ययः कोशः आनन्दमय कोश पूरयोध्या-वह पुरी जहाँ कभी युद्ध न होता हो।

अर्थात् इस स्वर्णिमदेवपुरी में ब्रह्म का वास है। इस प्रकार वैदिक दृष्टिकोण से यह मानव शरीर देवों की पुरी अथवा बसने का स्थान है। आँख, कान, नाक आदि सब अवयव एक एक देवता के प्रतिनिधि

हैं। यह शरीर मल-मूल का चोला, त्याज्य नहीं है अपितु यह तो देवताओं का स्थान है और हमारा यह सौभाग्य है कि हमें ऐसी उत्तम पुरी रहने को मिली है। अथर्ववेद के मन्त्र 11-8 के अनुसार शरीर को हड्डियों की समिधा बनाकर रस रक्त आदि को जल बनाकर रेतस को घृत बनाकर सब देव पुरुष शरीर में प्रविष्ट हुए हैं और यज्ञ रच रहे हैं। प्रजापति ब्रह्म भी इसके अन्दर विराजमान है। “सूर्य चक्षु रूप में विद्यमान है, वायु प्राण रूप में, अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुई, दिशाएँ श्रोत्र होकर कानों में जा घुसी, औषधि और वनस्पतियाँ ‘लोम होकर त्वचा में जा पहुँचे, चन्द्रमा मन बन कर हृदय में प्रविष्ट हुआ। मृत्यु अपान होकर नाभि में, जल वीर्य होकर जनन प्रदेश में प्रविष्ट हुए।” ऐतरेय उपनिषद् 1/2/4।

जहाँ शरीर को रथ एवं देवताओं की पुरी कहा गया वहाँ इसे यज्ञ स्थली की उपमा भी दी गई। इसे हमें विषय भोग का साधन न समझ कर एक पवित्र यज्ञस्थली समझनी चाहिए। अथर्ववेद के मन्त्र 11/8/29 ने हड्डियों को समिधाएँ, रूधिर-अस्थि आदि आठ प्रकार के जल ही यज्ञिय जल और रेतस को घृत स्वीकार किया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हड्डियों को समिधा और रेतस को घृत कहा गया है (1-1-9-4)। यजुर्वेद के 34/4 में तो मन की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि इस मन के द्वारा ही सप्त होता यज्ञ सम्पादित हो रहा है-“येन यज्ञस्तायते सप्त होता”। ये सप्त होता यज्ञ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन से परिचालित होने वाला ज्ञान प्राप्ति रूप यज्ञ ही है।

गोपथ ब्राह्मण का कथन है “पुरुष का शरीर यज्ञ-भूमि है। मन ही इस यज्ञ का ब्रह्मा है प्राण उद्गाता है, अपान-प्रस्तोता, व्यान प्रतिहन्ता, आँख अध्वर्यु, प्रजापति सदस्य और आत्मा यजमान है।” छान्दोग्योपनिषद् 3/16/1-5” यह पुरुष ही मानो एक यज्ञ हो रहा है जीवन के प्रथम 24 वर्ष यज्ञ का प्रातः सवन है। जिस प्रकार गायत्री के 24 अक्षर हैं, यज्ञ में गायत्री छन्द का सवन प्रातः काल है और इस सवन का देवता वसु है इसी प्रकार 24 वर्ष के ब्रह्मचर्य का

अधिष्ठाता वसु ब्रह्मचारी है। वसु और प्राण एक ही बात है। प्राण को वसु इसलिए कहते हैं क्योंकि प्राणों के कारण ही तो सब जीवधारियों का वास है। पुरुष के 44 वर्ष मानो यज्ञ का माध्यन्दिन सवन है। यज्ञ में त्रिष्टुप के 44 अक्षर होते हैं। इस सवन का देवता रूद्र है इसी प्रकार 44 वर्ष के अधिष्ठाता (ब्रह्मचर्य का) रूद्र ब्रह्मचारी है। रूद्र और प्राण एक ही बात है, रूद्र ब्रह्मचारी प्राणों को इतना वश में करता है मानो उन्हें रूला देता है। प्राण को रूद्र इसलिए कहते हैं क्योंकि जब ये ही चले जाते हैं तो सब रोने लगते हैं। आगे ब्रह्मचारी कहता है कि आप मुझे इस योग्य बनाएँ कि मैं तृतीय सवन तक अपने संकल्प का विस्तार कर सकूँ। आदित्य ब्रह्मचारी बन सकूँ। पुरुष के ये जो 48 वर्ष हैं यह यज्ञ का तृतीय सवन है। यज्ञ में जगती छन्द के 48 अक्षर होते हैं। इस तृतीय सवन का देवता आदित्य है इस प्रकार 48 वर्ष के ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता आदित्य ब्रह्मचारी है। आदित्य और प्राण एक ही बात है क्योंकि जैसे आदित्य सब को लिए हुए हैं, पकड़े हुए हैं वैसे प्राण भी शरीर की सब इन्द्रियों को लिए हुए है। इस प्रकार जो इस रहस्य को जानता है वह $24+44+48 = 116$ वर्ष तक जीता है। “ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद।”

कठोपनिषद् में भी शरीर को रथ कहा गया जिसका विवरण इस प्रकार है। शरीर एक रथ है, आत्मा रथी (स्वामी), बुद्धि उसकी सारथि, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, विषय चरागाह है।

“आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

बुद्धि तुं सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठ. तृतीय वल्ली 3-6

जो बुद्धि रूपी सारथि का उपयोग नहीं करता और मन रूपी लगाम को अपने वश में नहीं रखता उसकी इन्द्रियाँ वश से बाहिर हो जाती है और दुष्ट घोड़े सारथि का साथ नहीं देते। परन्तु जो बुद्धि का प्रयोग करता है, मन रूपी लगाम को वश में रखता है, उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं और घोड़े सारथी के वश में रहते हैं।

उपनिषदों के अतिरिक्त वेदों में भी इस शरीर को रथ की उपमा दी गई है। यह एक रथ है (शरीर) जिसमें देवराज इन्द्र (आत्मा) अपनी रानी उशीनराणी (बुद्धि) सहित बैठे हुए हैं। प्राण रूपी बैल (अनडवान) इस रथ को खींच रहा है। इन्द्र (आत्मा) को कहा गया है कि तू इस प्राण-रूपी बैल को ठीक प्रकार से चला, नहीं तो यह शरीर-रथ को रोगादि गड़बड़ों में गिरा देगा। सूर्य की किरणों से और पृथिवी की औषधि वनस्पतियों से इस रथ के मलों को दूर करते रहना चाहिए अन्यथा यह रोगग्रस्त होकर चलना बन्द कर देगा। ऋग् 10/59/10

यजुर्वेद (34/55) में इसे सप्त ऋषियों के बैठने का स्थान बताया गया है। वे सातों ऋषि बिना प्रमाद किए इस शरीर की रक्षा कर रहे हैं जब शरीर सोता है तो सातों ऋषि आत्मलोक में चले जाते हैं परन्तु दो देव ऐसे हैं जो उस समय भी जागते रहते हैं। निरुक्त की व्याख्या अनुसार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि-ये सप्त ऋषि है यदि शरीर में से ये ऋषि निकल जाएँ तो मनुष्य आँख से देख न पाए, नासिका से गन्धग्रहण न कर सके, कान से सुन न पाए, जिह्वा से स्वाद का ज्ञान, त्वचा से स्पर्श का ज्ञान, मन से चिन्तन और बुद्धि से विवेचन न कर सके। सुप्त अवस्था में आत्मा और प्राण-ये दोनों जागते रहते हैं क्योंकि यदि ये चले जाएँ तो शरीर मृत हो जाए।

इस प्रकार यह शरीर परमात्मा की उत्कृष्ट रचना है जिसमें देवताओं का वास है। इस यज्ञ स्थली में वास करते हुए हम सचमुच यज्ञ करें और ऋषि बनें। इस अनुपम रथ के रथी बन कर दिव्य पथ के पथिक बनें। सन्मार्ग पर चलें, वेद पथ के अनुगामी हों। हमारे विचार में कभी आत्म हवन का आगमन न हो। शायद यजुर्वेद/ईशोपनिषद् (40/3) का मन्त्र यही इंगित कर रहा है-

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

ताश्चे प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महानो जनाः॥

इस शरीर को देवों की पूरयोध्या मानकर, देवताओं के देवत्व को और ऋषियों के ऋषित्व को प्राप्त करें।

गोकर्णानिधि में महर्षि दयानन्द का चिन्तन

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने गौ आदि पशुओं के रक्षा के लिए गोकर्णानिधि सभा की स्थापना की थी। इसके लिए उन्होंने गोकर्णानिधि नामक लघु पुस्तक को लिखा। इस पुस्तक के प्रारम्भ में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी लिखते हैं कि- इस सभा का नाम गोकर्णानिधि इसलिए रखा है कि जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं, और इसके बिना निम्नलिखित सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकते।

सर्वशक्तिमान जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो-जो पदार्थ बनाये हैं, वे निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु एक-एक वस्तु अनेक-अनेक प्रयोजन के लिए रची हैं। इसलिये उन से वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है। देखिये जिस लिये यह नेत्र बनाया है इस से वही कार्य लेना सब को उचित होता है, न कि उस से पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में वह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन-जिन प्रयोजनों के लिए परमात्मा ने जो-जो पदार्थ बनाये हैं, उन-उन से वे प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना क्या सत्पुरुषों के विचार में बुरा कर्म नहीं है? पक्षपात छोड़कर देखिये, गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं वा नहीं? जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो-जो विषय जाने जाते हैं वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते।

युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी जो उन्नीसवीं शताब्दी के महान् सुधारक हुए हैं वे गौओं के प्रति अपने उद्गार प्रकट करते हुए कर्णामोत बहाते हुए गोकर्णानिधि नामक ग्रन्थ में कहते हैं- देखिए जो पशु निःसार घास, तृण पत्ते, फल फूल आदि खाएं और सारा दूध आदि अमृत रत्न देवें, हल गाड़ी में चल के अनेकविध अन्नादि उत्पन्न करके नीरोगता करे, मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जिधर चलाए उधर चलें, अपने स्वामी की रक्षा के लिए तन लगावे इत्यादि शुभ गुणयुक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरे से काट कर जो अपना पेट भरकर अपनी व संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी दुःख देने वाले पापीजन होंगे? गोकर्णानिधि में महर्षि दयानन्द गौ का आर्थिक दृष्टि से लाभ गिनाते हुए लिखते हैं कि- इस गाय के पीढ़ी में छः बछिया और सात बछड़े हुए इनमें से एक रोग आदि से मृत्यु सम्भव है तो भी बारह शेष रह जाते हैं। उन बछियों के दूध मात्र से १५४४४० व्यक्तियों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल उनमें एक जोड़ी से २०० मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६०० मन अन्न उत्पन्न कर सकती है। प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव भोजन गिने तो २५६००० मनुष्यों को एक बार भोजन होता है। इन गायों को परपीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जाए तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है और इसके मांस से अनुमान है कि अस्सी मांसाहारी मनुष्य तृप्त हो सकते हैं।

भारतीय संस्कृति और चिन्तन परम्परा में गौ को अत्यधिक पूजनीय माना गया है। जो गौओं को पालते हैं, उनकी रक्षा करते हैं उनको गाय भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन् गौधन उन गृहस्थों के ऐश्वर्यों की वृद्धि करता है। इसलिए वेद में स्पष्ट रूप से यह उद्घोषणा की गई है कि गौ माता, पुत्री और बहन के समान अघ्न्या है। ऋग्वेद का मन्त्र है-

माता रूद्राणां दुहिता वसुनां स्वसादित्यानाम् तस्यनाभिः ।

प्र नु वाचं चिकितुषे जनायमागामानागामदितिं वधिष्ट ।।

गौ राष्ट्र के रूद्र, वसु और आदित्य ब्रह्मचारियों की माता, पुत्री और बहन है। ये अमृत हैं। ऐसी निष्पाप गौ को कभी मत मार। इसलिए गौ को वेद में रक्षा करने योग्य बतलाया है।

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं शरीरस्य मध्ये ।

घृतं दुहानामदितिं जनायाप्ते मा हिंसीः परमे व्योमन् ।। यजुः

अर्थात् सैकड़ों तथा हजारों का धारण और पोषण करने वाली दूध का

कुआं, मनुष्यों के लिए घृत देने वाली और जो न काटने योग्य गौ है उसकी हिंसा मत कर। महर्षि दयानन्द जी इसी मन्त्र पर भावार्थ में लिखते हैं- जिस गाय से दूध, घी आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा सभी का रक्षण होता है, ऐसी गौ कभी भी मारने योग्य नहीं है। जो गाय की हिंसा करे उसे राजा दण्ड दे। वेद में सभी पशुओं की रक्षा के लिए कहा है। अथर्ववेद में कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मण की गौ की रक्षा करे, उसकी हिंसा कभी न करे। गौ को अघ्न्या कहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि गौ को कभी नहीं मारना चाहिए। निरुक्त में भी गौ के जो नाम दिए हैं वे हैं- अघ्न्या, उम्ना, उम्निया, अही, मही, अदिति, जगती और शक्ररी। इन शब्दों में अघ्न्या और अदिति शब्द गौ के अवध्य होने की तथा अही और मही शब्द उसके पूज्य होने की सूचना देते हैं। इसी प्रकार वेद में अनेकों स्थलों पर गौ को अघ्न्या कहा है। जो उसकी रक्षा करता है उसकी प्रशंसा वेद द्वारा की गई है। मारुतं गोषु अघ्न्यं शर्धः प्रशंसः अर्थात् जो मारुत गौ की रक्षा करते हैं उनके बल की रक्षा करो। इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहाम् अर्थात् यह अवध्य गौ अश्वि देवों के लिए दूध दे। अघ्न्ये विश्वदानीं तृणं अद्धि अर्थात् हे अवध्य गौ तू सदा घास खा। इसके अलावा और भी शास्त्रों के प्रमाण हैं जहां पर गाय को पूजा के योग्य बताया है। गावो विश्वस्य मातरः अर्थात् गाय सारे संसार की माता है।

दुर्भाग्य से लोग वेद के मार्ग को भूल गए, विद्या आदि से रहित हो गए, वाममार्ग का जोर हुआ उस समय मांस की आहुतियां यज्ञ में दी जाने लगी। वेद से अलग भारतीय साहित्य में भी गौ का महत्व बहुत दर्शाया गया है। जैसा कि महाभारत में वर्णन आया है कि-

यज्ञांगं कथिता गवो यज्ञ एव च वासवः ।

एतामिश्च विना यज्ञो न वर्तेत कथंचन ।।

भीष्म जी कहते हैं कि वासवः गौओं को यज्ञ का अंग तथा साक्षात् यज्ञस्वरूप कहा गया है। क्योंकि इन के दुग्ध, दधि और घृत के बिना यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। महाभारत में भी गौवों को अमृत की खान कहा है। वास्तव में गौ सर्वश्रेष्ठ पशु है, फिर भी मनुष्य पता नहीं उसकी हिंसा क्यों करता है। ये गौवें विकार रहित अमृत धारण करती हैं और दुहने पर अमृत रूपी दूध हमें प्रदान करती हैं। सारा संसार उनके सामने नतमस्तक होता है।

रामायण में प्रसंग आता है कि महर्षि विश्वामित्र राम को लेने के लिए अयोध्या आए थे क्योंकि राक्षस लोग उनके यज्ञों में विघ्न डालते थे। यज्ञ में मांस आदि फैंक कर यज्ञ का अनादर करते थे। ऋषि-मुनि अपने यज्ञ की रक्षा करना चाहते थे इसलिए वे राजा दशरथ के पास जाकर यज्ञ की रक्षा करने के लिए उनसे राम को मांगते हैं। जो मूर्ख यह कहते हैं कि हमारे ऋषि-मुनि भी मांस खाते थे, उन्हें यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि अगर वे मांस खाते होते तो उन्हें रक्षा की क्या आवश्यकता थी। वे राक्षसों के द्वारा फैंके गए मांस को खा लेते और राजा दशरथ के पास सहायता मांगने नहीं जाते। इसलिए यह स्पष्ट है कि हमारे ऋषि-मुनि शाकाहारी थे और कंद-मूल खाकर वे वनों में साधना किया करते थे जिनके कारण हमारी संस्कृति आज भी जिंदा है।

भारतीय इतिहास में आर्य राजाओं के यहां तो गौ रक्षा होती ही थी। इतिहास प्रसिद्ध महाराजा दिलीप ने शेर के सामने अपने आपको गौ की रक्षा हेतु प्रस्तुत किया। तभी तो उस समय का भारत समस्त संसार का गुरु कहलाता था। मनु महाराज की यह घोषणा कि पृथ्वी के सभी मानव भारत में शिक्षा लेने आते थे। वह युग कितना सुन्दर रहा होगा, इसका कारण गौ का सात्विक दूध और गौ रक्षा का ही फल था। आज भारत में भी गौओं का मांस बेचकर खाया जा रहा है फिर भी दाने-दाने के लिए दूसरे देशों पर निर्भर है। महर्षि दयानन्द जी ने गोकर्णानिधि में ठीक ही कहा है कि गौ आदि पशुओं के नाश से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है।

प्रेम भारद्वाज

संपादक एवं सभा महामन्त्री

गीता दर्शन

ले.-डा. सत्यदेव 507-गोदावरी ब्लाक, अशोका सिटी कृष्णा नगर-मथुरा

(गतांक से आगे)

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

गीता अ. 2/22

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ गीता अ. 2/23

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ गीता अ. 2/24

यह जीव तत्व अनेक रूप न होकर एक ही है। जैसे कि एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र या शरीर को प्रकाशित करता है-

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ गीता अ. 13/33

इस श्लोक में क्षेत्री (जीवात्मा) की उपमा सूर्य से दी गई है। जीव परमेश्वर (ब्रह्म) का सनातन अंश है-

“ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।” गीता अ. 5/7

इस प्रकार भगवान् (ब्रह्म) अंशी और जीव उसका अंश है ।

1.3 जगत् तत्व-भगवद्गीता में भगवान् या परब्रह्म परमात्मा को सब भूतों का सनातन व अविनाशी या अव्यय बीज बताया गया है। इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भगवान् के कारण ही है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् । (7/10)

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ (9/18)

जिस प्रकार बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और अन्त में वह पुनः बीज में ही विलीन हो जाता है। वैसे यह जगत् भी भगवान् से उत्पन्न होता है तथा फिर भगवान् में ही विलीन हो जाता है। पौराणिक कल्पानुसार जगत् के मध्य आविर्भाव काल को ब्रह्मा का दिन तथा जगत् के मध्य तिरोभावकाल को ब्रह्मा की रात्रि कहा गया है-

अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ (8/18)

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ (8/19)

अर्थात् समस्त प्राणियों की बार-बार उत्पत्ति और प्रलय ब्रह्मा के दिन व रात्रि में होती है।

गीता में सांख्य दर्शन की 'प्रकृति' को स्वीकार किया गया है। इस 'प्रकृति' को गीता में 'अव्यक्त' तथा महद्ब्रह्म कहकर पुकारा गया है। सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' से ही इस जगत् की उत्पत्ति बताई गई है, किन्तु गीता (सांख्य के) इस सिद्धान्त से सहमत नहीं होती। गीतानुसार प्रकृति से श्रेष्ठ व उससे बढ़कर ईश्वर है, जो प्रकृति का अध्यक्ष है, उसी की अध्यक्षता में प्रकृति इस जगत् को पैदा करती है। यदि परमात्मा या ईश्वर का संयोग न होता तो अचेतन जड़ प्रकृति में ऐसी सामर्थ्य या चेतनता कहाँ से आती?

‘मयाध्यक्षेण प्रकृतिः भूयते संचराचरम् ।

हे तु नानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते ॥ गीता अ. 9/10

इस प्रकार महत्-ब्रह्म रूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों (पशु-पक्षी आदि योनियों में उत्पन्न) की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और परमपुरुष या परमात्मा अथवा ईश्वर उस योनि गर्भस्थल में चेतन समुदाय रूप गर्भ को स्थापित करने वाला है अर्थात् सम्पूर्ण योनियों में उत्पन्न होने वाली मूर्तियों की योनि या उत्पत्ति स्थान महद्ब्रह्म मूल प्रकृति है और ईश्वर बीज रखने वाला है। अतः 'प्रकृति' इस जगत् की मातृस्वरूपा है तथा 'ईश्वर' पिता स्वरूप है-

“सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीज प्रदः पिता ॥ गीता अ. 14/4

इस प्रकार प्रकृति का स्थान ईश्वर से छोटा है। गीता की दृष्टि में यह जगत् मायारूप या काल्पनिक न होकर सर्वथा सत्य और वास्तविक है। गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है- 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' अर्थात् असत् (वस्तु) की तो सत्ता नहीं है और सत् (वस्तु) का अभाव नहीं है, वस्तुतः यही सत्कार्यवाद है।

1.4 पुरुषोत्तमतत्त्व या वासुदेवतत्व-गीता में पुरुषोत्तमतत्त्व या वासुदेवतत्व ही 'परमतत्व' है। एक ही समय में अखण्ड और पूर्ण ब्रह्म होने के कारण वह निर्गुण और सगुण दोनों ही है। उसे अपनी शक्ति तथा स्वरूप का सदैव ज्ञान रहता है। अपने भक्त को ज्ञान मार्ग तथा कर्तव्य का उपदेश देने के लिए वह सदैव तत्पर रहता है। वह अपने भक्तों से कुछ भी छिपाता नहीं है। वह अपने भक्तों का पिता, सखा या मित्र और सब कुछ है। वह अपने भक्तों की रक्षा व कल्याण का समस्त भार अपने ऊपर ले लेता है, वस्तुतः वह भक्तों के साथ अनन्य भाव से रहता है-

“अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ गीता अ. 9/22

पुरुषोत्तम तत्व को गीता का परम रहस्य और महत्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्व माना गया है। सांख्य दर्शन में प्रकृति के लिए 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु गीता-दर्शन के अनुसार 'अव्यक्त' तथा 'अक्षर' शब्दों का प्रयोग व्यक्ताव्यक्त से परे, प्रकृति-पुरुष से ऊपर एक विशिष्ट तत्व के लिए भी किया गया है। वह तत्व है अक्षरब्रह्म या परब्रह्म जिसकी प्रकृति (अव्यक्त) एक निकृष्ट विभूति है। गीता में प्रकृति को क्षर (नश्वर) तथा कूटस्थ अविकारी पुरुष को अक्षर कहा गया है, परन्तु वह परमतत्व जो प्रकृति को अतिक्रमण करने वाला है तथा अक्षर से उत्तम है, उसे 'पुरुषोत्तम' कहा गया है-

“द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ गीता अ. 15/16

अर्थात् इस संसार में क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) भी ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान् और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर अविनाशी कहा जाता है।

अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम तत्व की भेदता जानना भी 'अत्यावश्यक' है। इस जड़ जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म को या अव्यक्त प्रकृति से भी परे विद्यमान रहने वाले सचेतन तत्व

को 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं। परन्तु जो ईश्वर इस विश्व को व्याप्त करता हुआ भी इससे परे है, जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित हैं तथा उनसे पृथक् भी है-वही ईश्वर 'पुरुषोत्तम' नाम से कहा गया है। पुरुषोत्तमतत्व को क्षर तथा अक्षर से भी श्रेष्ठ व उत्तम बताया गया है। इसी पुरुषोत्तमतत्व को सर्व कर्म समर्पण कर देने की शिक्षा गीता देती है।

‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज’ ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः । गीता अ. 18/66

1.5 पदार्थ विचार-गीता में परमलक्ष्य के स्वरूप का वर्णन तथा भौतिक जगत् के विषयों का भी वर्णन किया गया है। गीता में तीन प्रकार के तत्वों का वर्णन है-क्षर (नाशवान्), अक्षर (अनश्वर) और पुरुषोत्तम ।

(1) क्षर-इस संसार के सभी जड़-पदार्थ 'क्षर' हैं, इसे ही 'अपरा प्रकृति', 'अधिभूत', 'क्षेत्र' और 'अश्वत्थ' आदि नामों से बताया गया है।

‘अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ।’ गीता अ. 15/3

यह विकारों का, करणों का तथा भूतों का मूल कारण है। इनके अलावा कारणों से उत्पन्न राग-द्वेष, सुख-दुःख, परमाणुओं का संघात, चेतना तथा धृति-ये 'क्षर' हैं। इनमें से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ भगवान् की 'अपरा प्रकृति' के रूप हैं।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गीता अ. 7/4

अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृति विद्धि मे पराम् ।

जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ गीता अ. 7/5

यह अपरा या भिन्न प्रकृति भगवान् के साथ अनादिकाल से सम्बद्ध है। इससे बन्धन की प्राप्ति होती है। प्रलय के समय समस्त भूत इसी में लीन हो जाते हैं और इसी से पुनः सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होते हैं-

(क्रमशः)

“संक्रमित नहीं, हम संकल्पित होंगे”

ले.-रामफल सिंह आर्य तृतीय तल, आनन्द विहार उत्तम नगर नई दिल्ली-59

(गतांक से आगे)

अन्ततः वह मथुरा में दण्डी स्वामी गुरु विरजानन्द जी महाराज के पास आ जाता है। गुरु उसके भीतर के संकल्प को पहचान लेते हैं और स्वचरणों में स्थान दे देते हैं। गुरु का संकल्प शिष्य का संकल्प बनता जाता है और एक दिन प्रचण्ड अग्नि का रूप धारण कर लेता है। यह संकल्प ऐसा था कि जिसके सामने संसार की बड़ी से बड़ी बाधा, बड़ी से बड़ी चुनौती नतमस्तक हो गई। यह संकल्प ही था जिसने मूलशंकर को महर्षि दयानन्द सरस्वती बना दिया।

हमारा संकल्प जितना-जितना प्रबल बनता जायेगा, हम उतने-उतने अपने लक्ष्य के समीप होते जायेंगे। जीवन का चाहे कोई भी क्षेत्र क्यों न हो संकल्प की महता सर्वत्र एक जैसी ही रहेगी। साथ ही यह संकल्प जितना अधिक लोगों के सामने प्रकट होता जायेगा, स्पष्ट होता जायेगा, वे उतने अधिक हमारे सहायक बनते जायेंगे। केवल तेईस वर्ष के एक युवक का संकल्प जिस समय लोगों के सामने प्रकट हुआ तो भगत सिंह इस देश का युवा हृदय सम्राट बन गया। जन-जन की श्रेष्ठ भावनायें उसके साथ जुड़ गई। क्या महाराणा प्रताप की शौर्य गाथा ठण्डी शिराओं में आज भी उष्णता उत्पन्न नहीं कर देती है? क्यों सुभाष चन्द्र बोस आज भी हमारे श्रद्धा के पात्र हैं और क्यों आज के अधिकतर नेताओं का नाम हमारे अन्दर उपेक्षा और निराशा उत्पन्न कर देता है? ऐसा क्यों है कि एक व्यक्ति दो या तीन वर्ष की अबोध बालिका से भी दुराचार करता है और उसी जैसा दूसरा व्यक्ति जो कि सीमा पर प्रहरी बनकर खड़ा है, हमारी रक्षार्थ अपने प्राणों का भी बलिदान कर देता है? सीधी सी बात है, पहला भयानक रूप से संक्रमण का शिकार बन चुका है और दूसरा संक्रमित नहीं अपितु संकल्पित बना हुआ है। उसका संकल्प उस उन्नत दशा तक पहुंच गया है जहां पर जीवन और मृत्यु दोनों एक हो जाते हैं।

यह केवल विचारों का अन्तर है, और कुछ नहीं।

यह एक बहुत बड़ा मनोविज्ञान है कि हम जैसा-जैसा चिन्तन करने लगते हैं हम वैसे ही बनने लगते हैं।

संसार भी हमें वैसे ही प्रतीत होने लगता है। इसी को कहा गया है- जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के छह मन्त्र इस रहस्य का वर्णन बहुत ही सुन्दर रूप में करते हैं। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने इनका विनियोग शान्तिकरण के मन्त्रों के अन्तर्गत किया है और प्रत्येक मन्त्र के अन्त में आता है तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु! इन मन्त्रों में मन की विभिन्न शक्तियों का वर्णन करके उसका महत्व बतलाया गया है और फिर यह प्रार्थना की जाती है कि मेरा वह दिव्य मन शिव अर्थात् श्रेष्ठ संकल्प वाला हो जाये। उसमें अशिव भावनायें रहने ही न पाये। एक स्थिति तो यह होती है कि शरीर रोगी हो तो औषधादि लेकर रोग को दूर कर लिया जाये और दूसरी यह है कि ऐसा प्रयास किया जाये कि रोग आये ही न। दोनों में से कौन सी श्रेष्ठ है? निःसन्देह दूसरी वाली। परन्तु उसके लिये तो प्रत्येक समय सावधान रहकर अपने खान पान, विचार, व्यवहार आदि पर कड़ी दृष्टि रखनी पड़ेगी। पथ्य-अपथ्य का ध्यान रखना पड़ेगा। कोई यदि आग्रहपूर्वक कुछ खाने के लिये कहता है तो उसकी ओर ध्यान न दे कर अपने हिताहित की ओर देखना पड़ेगा। जिह्वा पर संयम रखना पड़ेगा। ठीक समय पर सोना, जागना, व्यायाम, प्राणायाम आदि का अनुष्ठान करना पड़ेगा। अब यह सारा पुरुषार्थ क्या है? संकल्पवान् होना। इसके विपरीत जहां भी सावधानी हटी कि दुर्घटना अवश्य घटेगी। जो लोग यह कहते हैं कि अर्जो! मित्रों की संगति में बैठे हो तो “फारमैलिटि”, के लिये शराब का एक प्याला ले लो, कौन सा एक घूंट लेने से शराबी बन जाओगे? और सुनने वाला उस फारमैलिटि में सम्मिलित हो जाता है तो बस फिर क्या है? एक दिन की, एक बार की औपचारिकता ने हमारी वर्षों की तपस्या पर पानी फेर दिया। से संक्रमण प्रारम्भ हो जाता है।

मुझे अपने जीवन में बहुत सारे ऐसे लोग मिले जो सब कुछ खाने-पीने वाले थे। कई बार उन्होंने ऐसे आग्रह किये जिसका वर्णन ये ऊपर

कर चुका हूँ। मैंने पहले प्रेमपूर्वक और फिर कठोरता से मना कर दिया। कईयों ने तो कहा कि हमारे साथ रहोगे तो हम पीना सिखा देंगे इस पर मेरा उत्तर था कि मेरे साथ रहोगे तो पीना छोड़ दोगे। वास्तव में कईयों के साथ हुआ भी ऐसा ही। उन्होंने मद्यपान भी छोड़ा और मांसभक्षण भी। कालान्तर में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया वे लोग उल्टे मार्ग पर थे।

ऐसे अवसर हमारे जीवन में पग-पग पर आते ही रहते हैं और प्रत्येक क्षेत्र में आते रहते हैं। यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि ऐसे समय पर हम कैसे व्यवहार करते हैं और कैसे उनसे निपटते हैं। हमने अपने जीवन

में बहुत अच्छे-अच्छे परिवारों को बदलते हुए देखा है जिनके पूर्वजों ने श्रेष्ठ परम्पराओं और मर्यादाओं के लिये जीवन भर संघर्ष किया उनकी सन्तानों ने स्वयं ही उन्हें अपने जीवन में से निकाल कर दूर कर दिया। आर्य समाजों में इस बात को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यह कटु अवश्य है परन्तु है सत्य। परिवर्तन तो वैसे संसार का नियम है ही, सदैव से होता आया है, आगे भी होता रहेगा परन्तु इस परिवर्तन में संस्कृति की मूल भावना विलुप्त नहीं होनी चाहिये। यह मूल बना रहेगा तो वृक्ष फिर से हरा भरा हो जाता है परन्तु मूल ही न रहा तो फिर तो सब कुछ नष्ट ही हो जाता है।

पृष्ठ 8 का शेष-सुखों का साधन यज्ञ

चेहरा हर पल लटका सा, उदासीन सा ही रहता है। चेहरे पर खुशी कभी दिखाई ही नहीं देती। इसलिए हमें तेजस्वी बनने के लिए सदा अपने आप को किसी कार्य अथवा ईश्वराधाना में लगाए रखना होता है। पुरुषार्थ करते हुए प्रतिदिन योग-व्यायाम आदि भी करना होता है। इस सब से हम तेजस्वी होते हैं। जब हमारे में तेज होगा तो प्रसन्नता स्वयमेव ही आ जावेगी जो हमें सुखी रखेगी।

इसके साथ ही मन्त्र कहता है कि हम तेज को तो प्राप्त करें किन्तु उग्रता अर्थात् क्रोध को अपने पास न आने दें। क्रोध से पागल हुआ व्यक्ति न तो स्वयं सुखी रहता है और न ही अपने परिजनों को ही सुखी रहने देता है क्योंकि इन सबके पास प्रसन्नता आ ही नहीं पाती। इसलिए उग्रता को कभी अपने पास भी न आने देना।

जहां लड़ाई झगड़ा कलह क्लेश होता है, वहां से प्रसन्नता बहुत दूर चली जाती है। जब प्रसन्नता ही नहीं होगी तो सुख कहाँ से आवेगा? इसलिए भी आवश्यकता है कि परिवार का वातावरण सदा ही प्रेम से भरा हुआ सौहार्द पूर्ण होना भी सुख के अभिलाषी प्राणी के लिए आवश्यक होता है।

हमने जो भी कार्य करना होता है, उसे एक व्यवस्था के अनुसार करें। यह न हो कि भजन के समय तो हम विश्राम करने लगें और विश्राम के समय भोजन की इच्छा रखें। अतः एक व्यवस्था निर्धारित कर लें। अपने दिन भर के कार्यों की समयसारिणी बना लें और इस समय सारिणी के अनुसार जो काम करने के लिए जो समय निश्चित किया गया हो, उसे उस समय पर ही करें। व्यवस्थित जीवन भी प्रसन्नता और सुखों का कारण होता है।

यज्ञ को कभी विच्छिन्न न होने दें:-

जिस प्रकार हमारे लिए प्रतिदिन भोजन आवश्यक है, उस प्रकार ही हमारे जीवन में यज्ञ भी आवश्यक होता है। अपनी इस आवश्यकता को स्मरण रखें और इसे कभी भूलें नहीं। प्रतिदिन यज्ञ को नियम पूर्वक करें। यहाँ तक यज्ञ के आदी बन जावें कि किसी दिन भोजन तो चाहे छूट जावे किन्तु यज्ञ नहीं छूटना चाहिए। इस यज्ञ से हमारा वायु मंडल, हमारा भवन, हमारा हृदय, हमारा शरीर आदि सब कुछ शुद्ध और पवित्र हो जाता है, तथा हम स्वस्थ रहते हुए सब खुशियों को प्राप्त करने के कारण सुखी होते हैं। इसलिए यज्ञ को कभी बाधित न होने दें।

मुक्ति और मुक्ति के उपाय

ले.-शिवनारायण उपाध्याय दादावाड़ी कोटा, (राजस्थान)

संसार में हर प्राणी दुःख से छूटना चाहता है। संसार में अधिकांश महापुरुषों ने संसार को दुःख का सागर माना है तथा इससे कैसे मुक्ति मिले इस विषय पर चिंतन किया है, परन्तु वास्तव में दुःख से बचना सामान्य बात नहीं है। सांख्य दर्शन के प्रारम्भ में ही कह दिया है-अथ त्रिविध दुःख अत्यन्तनिवृत्ति अत्यन्त पुरुषार्थ। सा.द.1.1 आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैव दुःखों की नितान्त निवृत्ति परम पुरुषार्थ से ही संभव है। कुछ दुःख तो ऐसे हैं जो जन्म-मरण देह वाले को देह चक्र के आश्रय से भोगने ही पड़ते हैं। पातंजल योग दर्शन में कहा गया है कि जीव जब तक जन्म मरण के चक्र में फंसा हुआ है उसे पांच दुःख तो भोगने ही पड़ते हैं।

ये दुःख हैं-गर्भवासदुःख, कफ, पित्त, मूल, मूल आदि अमेध्य मलों से लिप्त बन्दी-गृह सदृश शरीर में बंधुए के समान हाथ-पांव बंधे हुए रह कर माता के रूधिर आदि अभक्ष्य विकारों के भक्षण से पुष्टि पाना जहां श्वास लेने को शुद्ध वायु भी प्राप्त नहीं होती। भट्टी के समान माता के उदर में जठराग्नि रूप दहकती हुई कालाग्नि में सदा सन्तप्त और व्याकुल रहना। क्या यह भयंकर नरकवास के तुल्य नहीं है?

जन्म दुःख-जन्म के समय योनि द्वार से इस प्रकार खींच कर निकाला जाता है जैसे स्वर्णतार को यन्त्र के छोटे से छिद्र से निकाल कर उसे पतला करता है? इस दुःख का वर्णन करना भी असंभव है।

जरा दुःख-बुढ़ापे में इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। जठराग्नि मन्द हो जाने से पाचन शक्ति घट जाती है। स्मरण शक्ति कमजोर हो जाती है। दांत गिर जाते हैं, इससे भोजन का यथावत् चर्वण नहीं हो पाता है। अशक्त एवं बुद्धिहीन हो जाने से सबकी आंखों में खटकने लगता है। घर के लोग ही उसका उचित सम्मान नहीं करते हैं। तिरस्कृत होकर जीना पड़ता है।

रोग दुःख-थोड़ा सा रोग भी शरीर में असह्य हो जाता है। शरीर के क्षीण हो जाने से उसमें रोग का सामना करने की शक्ति जाती रहती है।

मरण दुःख-प्राण निकलते समय जो दुःख होता है उस अवसर की कथा तो शास्त्रों में अति कष्टमय मानी जाती है। अन्तिम समय में उसके सामने-अपने जीवन में किये गये भले-बुरे कामों की झांकी आ जाती है। इससे उसकी व्याकुलता बढ़ जाती है। वास्तव में देह से अलग होते समय वह अत्यन्त भयभीत हो जाता है। प्रश्न यह है कि इन दुःखों से बचा कैसे जा सकता है।

इसका उत्तर सभी विद्वान् यही देते हैं कि मुक्ति प्राप्त कर लेना ही इन दुःखों से निवृत्ति पाना है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर योगाभ्यास का सहारा लेना होता है। योग का अर्थ है आत्मा का परमात्मा से मिलाप। योग के उपायों का अभ्यास करना ही योगाभ्यास है। योग में सफलता समाहित चित्त पुरुष ही प्राप्त करता है। पातंजल योग शास्त्र में योग की परिभाषा 'योगः चित्त वृत्ति निरोधः। पा.यो.1.2. दी गई है। अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सब बुराईयों से हटाकर शुभ गुणों में स्थिर करके परमात्मा के सामीप्य में मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करना ही योग है।

वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं-
(1) प्रमाण विपर्यय विकल्प-निद्रा स्मृतयः।। यो.पा.1.6

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

(1) प्रमाण वृत्ति-प्रमाण वृत्ति तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।। पा. योग. 1.7.

प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की होती है-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम। इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। 'अनुपश्रवन्मीयतेऽनेवेत्यनुमानम्।। प्रत्यक्ष के अन्दर जिस वृत्ति से ज्ञान प्राप्त होता है। उसे अनुमान कहते हैं। उदाहरण-जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है।'

आगम-आ समन्ताद गम्यते बुध्यतेऽनेने त्यागमः शब्दः। जिनके द्वारा भले प्रकार समझा जाये उसे आगम कहते हैं। इसे शब्द प्रमाण भी कहते हैं।

(2) विपर्यय वृत्ति-विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम्।। यो. पा. 1.8

विपर्यय मिथ्याज्ञान है जो उस पदार्थ के वास्तविक रूप को प्रकाशित नहीं करता है। वह अन्य में अन्य की भावना करता है।

(3) विकल्प वृत्ति-शब्द ज्ञाननुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः।। यो.पा.1.9

जिसका शब्द तो हो परन्तु उससे किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिले। जैसे वन्ध्या का पुत्र, आकाश पुष्प, सींग वाले मनुष्य।

(4) निद्रा वृत्ति-अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिनिद्रा।। यो.पा.1.10

अभाव की प्रतीति का आश्रय करने वाली वृत्ति को निद्रा वृत्ति कहते हैं। यह अज्ञान और अविद्या में फंसी हुई वृत्ति है।

(5) स्मृति-अनुभूत विषया-सन्प्रमोष स्मृतिः।। यो.पा.1.11

अनुभव किए हुए विषय का फिर से चित्त में आरोह पूर्वक उससे अधिक नहीं किन्तु तन्मात्र विषयक ज्ञान होना स्मृति है। योगी को उचित है कि इस पांचों प्रवृत्तियों का निरोध करे यह केवल अभ्यास और वैराग्य से ही संभव है।

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्न-निरोधः।। यो.पा. 1.12

परन्तु यह अभ्यास दीर्घ काल पर्यन्त निरन्तर व्यवधान रहित ठीक-ठीक, श्रद्धा, वीर्य, भक्ति पूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ आस्था वाला होना चाहिए।

दृष्टानु श्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।। यो.पा. 1.15

और आनुश्रविक विषयों में जिसकी कोई तृष्णा नहीं है वही वशीकार नाम वैराग्य है। दृष्ट विषय वे हैं जो दृष्टि गोचर होते हैं-जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श धन सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि।

आनुश्रविक विषय वे हों जो वेद, शास्त्रों द्वारा सुने गए हैं जैसे-स्वर्ग, देवलोक, विदेह, दिव्य गन्ध रसादि।

तत्परं पुरुष ख्याते गुणवै तृष्णायम्।। यो.पा.1.16

विवेक ख्याति द्वारा गुणों से तृष्णा रहित हो जाना पर वैराग्य है। अपर वैराग्य दिव्य, अदिव्य आदि विषयों में तृष्णा रहित हो जाना है। अपर वैराग्य द्वारा योगी दृष्ट अदृष्ट विषयों

में दोष देखकर उन सबमें तृष्णा रहित हो जाता है। जब चित्त से उनकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है और चित्त एकाग्र हो जाता है यह सम्प्रज्ञात समाधि है। इसकी उच्च अवस्था में चित्त और पुरुष के भेद का साक्षात्कार होता है इसका नाम विवेक ख्याति है। विवेक ख्याति के बढ़ने पर आत्म साक्षात्कार होता है। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।। विवेक ख्याति में ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों चित्त निर्मल होता जाता है। आत्म शुद्धि उत्तमोत्तम प्रतीत होती है। चित्त की निर्मलता में यह ख्याति भी चित्त की ही सात्त्विक वृत्ति और गुणों का परिणाम प्रतीत होने लगती है। तब इस ख्याति से भी वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इस प्रकार गुणों से भी तृष्णा रहित अर्थात् विरक्त होना पर वैराग्य है। इस पर वैराग्य को ही ज्ञान प्रसाद मात्र कहते हैं। इसमें रजस, तमस गुण की गन्ध मात्रा भी नहीं रहती है। इस वैराग्य के उदय होने से योगी धर्ममेध समाधिष्ट हुआ अपने मन में मानने लगता है कि मैं जो प्राप्त करने योग्य था वह मैंने प्राप्त कर लिया है। पांचों क्लेश नष्ट हो गये हैं। अब जन्म-मरण का चक्र टूट गया है। यह पर वैराग्य की पराकाष्ठा है। इसके निरन्तर अभ्यास से कैवल्य प्राप्त होता है। ज्ञान प्रसाद नामी पर वैराग्य का फल असम्प्रज्ञात समाधि है। इसकी पराकाष्ठा कैवल्य है।

वितर्क, विचारानन्दास्मितारू-पानुगमातसमप्रज्ञातः।। यो.पा.1.17

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपों के संबंध से जो चित्त की वृत्तियों का निरोध है उससे जो समाधि होती है वह सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है अर्थात् वितर्क के संबंध से जो चित्त की वृत्तियों का निरोध है उससे जो समाधि होती है उस का नाम वितर्कानुगत, विचारों के संबंध से विचारानुगत, आनन्द के सम्बन्ध से आनन्दानुगत और अस्मिता के संबंध से होने वाली समाधि का नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है। ये चारों प्रकार की समाधियां सबीज भी कहलाती हैं, सालम्बन भी कहलाती है। (शेष पृष्ठ 7 पर)

पृष्ठ 6 का शेष-मुक्ति और मुक्ति के उपाय

विराग प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कार शेषोऽ न्यः॥ यो.पा. 1.18

सर्व वृत्तियों के निरोध का कारण जो पर वैराग्य है उसके पुनः-पुनः अनुष्ठान रूप अभ्यास से जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं वह असम्प्रज्ञात समाधि है।

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्॥ यो.पा.1.19

विदेह और प्रवृत्तियों को जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि की प्रतीति होती है। विदेह योगी वे ही जो वितर्कानुगत, विचारानुगत, समाधि सिद्ध करके शरीर से आत्माभ्यास छोड़ चुके हैं और आनन्दानुगत भूमि में प्रविष्ट होकर उसका अभ्यास कर रहे हैं। उनका देह में आत्माभिमान निवृत्त हो गया है। इसलिए वे विदेह कहलाते हैं। प्रकृतिलय वे योगी हैं जिन्होंने आनन्दानुगत को सिद्ध कर लिया है और सातों प्रकृतियों का साक्षात् करते हुए अस्मितानुगत समाधि का अभ्यास कर रहे हैं।

श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्॥ यो.पा.1.20

दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा पूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

तीव्र संवेगा नामासन्नः॥ यो.पा.1.21

तीव्र संवेग और अधि मात्र उपाय वाले योगियों को समाधि लाभ तीव्रतम होता है।

ईश्वर प्रणिधानाद्वा॥ यो.पा.1.23

ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम समाधि लाभ होता है। क्लेश कर्म विपाका शयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः॥ यो.पा.1.24

क्लेश, कर्म, कर्म के फल और वासनाओं से असम्बद्ध अन्य पुरुषों से विशेष चेतन ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्॥ यो.पा.1.25

उस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज (बढ़ती रहित) है।

पूर्वेषामपि गुरु कालेना-वच्छेदात्॥ यो.पा.1.26

वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि वह काल से परिच्छिन्न नहीं है।

तस्य वाचक प्रणवः॥ यो.पा. 1.27

उस ईश्वर का बोधक शब्द ओ३म् है।

तज्जपस्तदर्थ भावनम्॥ यो.पा.1.28

उस ओ३म् का जप करना और उसके अर्थभूत ईश्वर का ध्यान करना ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से प्रत्यक्ष चेतना का ज्ञान भी होता है और विघ्नों का अभाव भी होता है। ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम असम्प्रज्ञात समाधि लाभ होता है।

पातंजल योग शास्त्र 1.30 में आगे कहा गया है कि व्याधि, सत्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थितत्व योग चित्त के नौ विक्षेप हैं। इनके होने से दुःख दौर्मनस्य अङ्गमेजयत्व श्वास प्रश्वास पांच प्रति बंध भी उपस्थित हो जाते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ यो.पा.1.32

विक्षेप और उपविशेष को दूर करने के लिए एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् किसी अभिमत एक द्वारा चित्त की स्थिति के लिए यत्न करना चाहिए। एकाग्रता का उदय होने पर सब विक्षेपों का नाश हो जाता है। इसका सबसे उत्तम उपाय तो ईश्वर प्राणिधान है। कलुष दूर करने का एक उपाय और है। मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्॥ यो.पा.1.33

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम मित्रता, दया हर्ष, और उपेक्षा की भावना के अनुष्ठान से चित्त में प्रसन्नता होती है।

प्रच्छादन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ यो.पा.1.34

कोष्ठस्थित वायु को नासिका द्वारा बाहर फेंकने और बाहर रोकने से मन की स्थिति को सम्पादित करे। आगे कहा गया है कि शोक रहित प्रकाश वाली प्रवृत्ति मन की स्थिति को बांधने वाली होती है। राग रहित व्यक्ति का चित्त भी बंध जाता है। इष्ट के ध्यान से भी मन की स्थिति बंध जाती है। इन उपायों से स्थिर हुए चित्त की सूक्ष्म पदार्थों में परमाणु पर्यन्त और महान् पदार्थों में परम महान् पर्यन्त वशीकार हो जाता है।

इन बताए हुए उपायों से स्वच्छ हुए चित्त की उपमा अति निर्मल स्फटिक से दी गई है। जिस प्रकार अति-निर्मल स्फटिक के सामने

जैसी वस्तु नीला, पीली अथवा लाल वर्ण की रखी जाए तो वह वैसे ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार चित्त की जब सब प्रकार की राजस-तामस वृत्तियां क्षीण हो जाती है तब वह सत्व के प्रकाश और सात्विकता के बढ़ने से इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसको जिस वस्तु में लगाए उसके तदाकार होकर उसको साक्षात् करा देती है। वह वस्तु के स्वरूप को धारण कर लेता है। चित्त के इस प्रकार तदाकार हो जाने का नाम समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि है। इस समापत्ति या सम्प्रज्ञात समाधि के 4 भेद हैं।

तत्र शब्दार्थज्ञान विकल्पैः संकीर्ण सवितर्का समापत्ति॥ यो.पा.1.42

उन समापत्तियों में से शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों (भेदों) से मिली हुई सवितर्क समाधि होती है। व्याख्या-शब्द जो कर्णेन्द्रिय से ग्रहण किया जा सके। अथवा अर्थों के विशेष योजना रूप हो जैसे 'गौ' अर्थ-जाति जैसे गौ-चार पैर, दो सींग, पुच्छ वाला पशु ज्ञान-इन शब्द और अर्थ दोनों का प्रकाश करने वाली सत्य प्रधान बुद्धि वृत्ति जो शब्द 'गौ' और उसके अर्थ 'गौ' को मिलाकर बतलाती है कि जो 'गौ' शब्द है उसी का यह 'गौ' पशु विशेष अर्थ है। ये तीनों भिन्न हैं परन्तु निरन्तर अभ्यास के कारण मिले हुए प्रतीत होते हैं। उस 'गौ' में चित्त एकाग्र किया जाए।

तब समाधिस्थ चित्त में 'गौ' शब्द 'गौ' अर्थ और 'गौ' ज्ञान के भेदों से मिला हुआ भासे तब उसे 'सवितर्क' समाधि कहेंगे। इसी को 'सविकल्प' समाधि भी कहते हैं। शब्द और ज्ञान का विकल्प जाता रहा और केवल 'गौ' अर्थ ही चित्त

में भासता रहे तब वह 'निर्वितर्क' समापत्ति कहलाती है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्म विषया व्याख्याता॥ यो.पा.1.44

इस सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के निरीक्षण से ही सविचार और निर्विचार समापत्तियां सूक्ष्म विषय में व्याख्याता की हुई समझनी चाहिए। सविचार और निर्विचार की सूक्ष्म विषयता परमाणुओं में समाप्त नहीं हो जाती हैं किन्तु प्रकृति पर्यन्त हैं।

ताएवसबीजः समाधि॥ यो.पा.1.46

ये चारों समापत्तियां ही सबीज समाधि कहलाती हैं।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा॥ यो.पा.1.48

निर्विचार समाधि की विशारदता से जन्म अध्यात्म प्रसाद के होने पर जो समाहित चित्त योगी को प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है। यह उसका यथार्थ नाम है क्योंकि ऋत नाम सत्य का है और 'भरा' के अर्थ धारण करने वाली के हैं अर्थात् यज्ञ प्रज्ञा सत्य को ही धारण करने वाली होती है। इसमें भ्रांति विपर्यय ज्ञान अर्थात् अविद्या का गन्ध भी नहीं होता है। इस प्रज्ञा के होने से ही उत्तम योग का लाभ होता है।

तज्जः संस्कारोऽ न्य संस्कार प्रतिबन्धी॥ यो.पा.1.50

इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सब व्युत्थान के संस्कारों का बाधक होता है।

तस्यापि निरोधे सर्व निरोधा-न्निर्बीजः समाधिः॥ यो.पा.1.51

पर वैराग्य द्वारा उस ऋतम्भरा प्रज्ञा जन्म संस्कार के भी निरोध हो जाने पर पुरातन-नूतन सब संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि होती है। (क्रमशः)

ऋषि निर्वाण दिवस एवं दीपावली पर्व

आर्य समाज मन्दिर तलवाड़ा में ऋषि निर्वाण एवं दीपावली का पर्व बड़ी धूमधाम से मनाया गया। प्रातः 8:00 बजे वैदिक सन्ध्या का पाठ और उसके पश्चात यज्ञ किया गया जिसमें आर्य समाज के काफी सदस्य आए हुए थे। हवन यज्ञ आर्य समाज के पुरोहित परमानन्द जी ने कराया। यज्ञ के पश्चात कृष्णा देवी शर्मा, मनस्वी शर्मा, रेवान शर्मा और बेबी देवी ने ऋषि दयानन्द के जीवन पर भजन प्रस्तुत किये। भजनों के पश्चात पुरोहित परमानन्द जी ने महर्षि दयानन्द के जीवन पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि महाभारत के पाँच हजार वर्षों के पश्चात महर्षि जैमिनि के पश्चात महर्षि दयानन्द का जन्म हुआ जिन्होंने ऋषि परम्परा को आगे बढ़ाया। लोगों को वेदों की ओर लौटने का संदेश दिया। जो लोग वेदों को भूल कर अपनी-अपनी डफली बजा रहे थे उनके साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें सत्य को अपनाने की प्रेरणा दी। वैदिक विचारधारा को निरन्तर प्रवाहित करने के उद्देश्य से महर्षि दयानन्द ने सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। इसलिए हम सभी आर्यों को महर्षि दयानन्द जी के बताये गए मार्ग पर चलते हुए उनकी विचारधारा को आगे बढ़ाना चाहिए। शान्तिपाठ के साथ कार्यक्रम का समापन किया गया और प्रसाद का वितरण किया गया।

परमानन्द आर्य पुरोहित आर्य समाज

सुखों का साधन यज्ञ

ले.-अशोक आर्य पाकेट १/६१ रामप्रस्थ ग्रीन से. सैक्टर ७ वैशाली

विगत मन्त्र में हमने यज्ञ के साधनों पर प्रकाश डाला था। इस मन्त्र में बताया गया है कि यज्ञ करने वाले प्राणी को कौन-कौन से सुख मिलते हैं। इस संबंध में मन्त्र इस प्रकार प्रकाश डाल रहा है:-

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सदऽआसीद

घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सदऽआसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सदऽआसीद प्रियेण धाम्ना प्रियं सदऽआसीद। ध्रुवाऽअसदन्तस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम्॥ यजु. २.६॥

इस मन्त्र का भाष्य करते हुए स्वामी दयानंद जी सरस्वती ने इस प्रकार लिखा है:-

भावार्थ

जो यज्ञ पूर्वोक्त में वसु, रूद्र और आदित्य से सिद्ध होने के लिए कहा है वह वायु और जल की शुद्धि के द्वारा सब स्थान और सब वस्तुओं को प्रीति कराने हारे उत्तम सुख को बढ़ाने वाले कर देता है सब मनुष्यों को उनकी वृद्धि व रक्षा के लिए व्यापक ईश्वर की प्रार्थना और सदा अच्छी प्रकार पुरुषार्थ करना चाहिए।

मन्त्र के भावार्थ के आलोक में जो बातें निखर कर सामने आती हैं, वह इस प्रकार हैं:-

विघ्नों को दूर कर क्रिया प्रवाही बनें:-

हम जब कभी भी कुछ कार्य करते हैं तो कार्य करते हुए हमारे मार्ग में बहुत सी बाधाएं आती रहती हैं। यह बाधाएं हमें हमारे किये जा रहे कर्म में बाधा खड़ी करती है, रुकावट पैदा करती है। यदि सामने से आ रही रुकावट को देखकर हम अपने कार्य का त्याग कर दें तो फिर वह उत्तम कार्य कभी संपन्न हो ही नहीं सकता। इसलिए हमें आने वाली बाधाओं से कभी भी घबराना नहीं चाहिये किन्तु इन बाधाओं में से भी मार्ग निकाल कर अपने कार्य को संपन्न करने के लिए पुरुषार्थ को निरंतर बनाए रखना चाहिए और इस प्रकार हम अपने

कार्य को संपन्न कर पाने में सफलता प्राप्त करें। अतः पुरुषार्थ का दामन किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ना चाहिये। कार्य की सम्पन्नता से हमें खुशी मिलती है। यह खुशी ही हमारे सुखों का साधन होती है।

ज्ञानधन प्रभु की उपासना करें:-

परमपिता परमात्मा सब ज्ञानों का स्रोत है। उसने अपना ज्ञान वेद के रूप में हमें बांटा भी है। वह अपनी सन्तानों को परम ज्ञानी रूप में देखना चाहता है। उस पिता ने सृष्टि के आदि में ही हमारे लिए वेद के रूप में अपने ज्ञान का स्रोत खोल दिया था। इस कारण वह प्रभु ज्ञान रूपी धन का स्वामी है किन्तु उसकी यह विशेषता भी है कि वह इस धन को सब को बराबर बांटता रहता है किन्तु मिलता उसी को है, जो इसे पाने के लिए पुरुषार्थ करता है। ज्ञान का भंडारी होने के कारण ही वह प्रभु ज्ञानधन भी कहलाता है। हम ज्ञान को पाने के पिपासु हैं। इसलिए हम ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ज्ञान के आदि स्रोत अर्थात् परमपिता के निकट रहने का प्रयास करते हैं और अपना आसन प्रभु के निकट लगा लेते हैं।

दान और आदान क्रिया को सुचारू रखें:-

मनुष्य का स्वभाव है कि वह सदा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ उन लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में भी उन लोगों का सहयोग करे, जिन के पास अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए साधन स्वरूप धन का अभाव होता है। इन लोगों की जो लोग सहायता करते हैं, उन्हें दानी अथवा दानशील कहा जाता है। मन्त्र उपदेश कर रहा है कि हम अपनी दान की प्रवृत्ति को नियमित रूप से बनाए रखें।

दानी होने के साथ ही साथ आदान का अभ्यास भी निरंतर बनाए रखें। इसका भाव है कि यदि कोई गुण या कोई ज्ञान किसी से मिलता है तो उसे तत्काल ग्रहण कर लें। दान देने और किसी से कुछ ग्रहण करने वाला व्यक्ति सदा प्रसन्न और

सुखी रहता है।

दूसरों को खिला कर खावें:-

कहा जाता है कि अकेला खाने वाला नरक में जाता है। मानव जीवन में अनेक प्रकार के यज्ञ बताये गए हैं। उनमें से पांच यज्ञों को हमारे ऋषियों ने महायज्ञ कहा है। महायज्ञ होने के कारण इनका महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है। अतः इन पांच यज्ञों को प्रतिदिन करना प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य ही होता है। जो इन पांच यज्ञों में से एक यज्ञ भी छोड़ देता है तो वह सुखी नहीं रह सकता।

यह पांच यज्ञ हैं:- १. ब्रह्म यज्ञ (आर्य समाज में इसे संध्या कहते हैं, जो कुछ विशेष मंत्रों के साथ प्रतिदिन दो काल सन्ध्या के समय किये जाने के कारण ही इसका नाम संध्या हुआ है) २. अग्निहोत्र:- प्रतिदिन दोनों समय हवन के साथ अपने घर के वातावरण को शुद्ध करना। ३. बलिवैश्वदेव यज्ञ:- जीव जंतुओं को भोजन कराना अथवा मिष्ठान की आहुति यज्ञ में देना। ४. पितृ यज्ञ:- माता पिता और गुरु (आचार्य) आदि की सेवा करना तथा ५. अतिथि यज्ञ:- अकस्मात आने वाले साधु-संन्यासी या वानप्रस्थी की सेवा सत्कार करते हुए उन्हें भोजनादि से तृप्त करना।

यह पांच यज्ञ हैं। इनमें से तृतीय यज्ञ बलिवैश्वदेव यज्ञ के अंतर्गत हमारी प्राचीन परम्परा चली आ रही है कि हम जीव जंतुओं, पशु-पक्षियों और जलचर प्राणियों के उदर की भी तृप्ति करें। इस क्रम में ही हम अपने चूल्हे से उतरने वाली प्रथम अथवा इस से कुछ अधिक रोटियों को अलग रख कर फिर परिवार के सदस्यों को भोजन दिया जाता था। यह जो रोटियाँ पहले से अलग रखते थे, यह पशु पक्षियों आदि के लिए होती थीं। इसका भाव यह होता है कि पहले अन्य प्राणियों को खिला कर फिर हम खावें अर्थात् हमारे आस पास कोई भी भूखा न रहे। जब हम इस प्रकार से अपने जीवन को चलाते हैं तो हमारा जीवन प्रसन्नता से भर जाता है। यह प्रसन्नता

ही सब सुखों का द्वार है।

सब का पालन करना:-

सब का पालन करना भी हमारे जीवन का एक उद्देश्य तथा एक यज्ञ है। ऊपर बताया गया है कि दूसरों को खिला कर फिर खाना, प्राणी मात्र को तृप्त कर फिर अपने पेट में ग्रास डालना, बस यह ही प्राणी मात्र का पालन करना होता है। इस सृष्टि में कर्म करने का अधिकार केवल मनुष्य को दिया गया है। अन्य सब प्राणी तो मनुष्य के किये गए कर्म में से ही हिस्सा पाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सदा अन्य जीवों के पालन के लिए भी पुरुषार्थ करे। इससे भी हमें सदा मिलती है, जो हमारे सुखों को बढ़ाने वाली होती है।

घर में ध्रुव रहना:-

ध्रुव कहते हैं स्थिर को। घर को स्थिर रखने का कार्य माता अथवा महिला ही करती है, जो पूरा समय घर के अन्दर ही रहती है। पुरुष तो दिन भर अपने जीवन यापन के लिए कार्य करते हुए घर से दूर ही रहता है। अनेक बार तो वह घर से इतना दूर हो जाता है कि वह अनेक महीने या वर्ष भर भी निरंतर घर से दूर रह जाता है। ऐसी अवस्था में घर की सब व्यवस्था गृह स्वामिनी को ही बनानी होती है। इसलिए यदि नारी कभी विचलित नहीं होगी, पथभ्रष्ट नहीं होगी, घर के बनाए गए नियमों से बंधी रहेगी तो निश्चय ही वह स्थिर होगी, ध्रुव होगी। यदि नारी स्थिर है तो घर सुख सुविधाओं का केंद्र बन जाता है। जब घर में सब प्रकार की सुविधायें मिल जाती है तो निश्चय ही घर का प्रत्येक सदस्य प्रसन्न होकर सुखी होता है।

तेज को धारण करें उग्र नहीं बनें:-

मन्त्र यह भी उपदेश कर रहा है कि हम तेज को धारण करें। यदि हम तेजस्वी होते हैं तो उत्तम स्वास्थ्य हमें उन्नति पथ पर बढ़ने से कभी बाधक नहीं होता किन्तु जब तेज ही हमारे पास नहीं होता तो हमारा (शेष पृष्ठ 5 पर)